SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

आर्थिकी के सन्दर्भ में पंडित दीनदयाल उपाध्याय के वैचारिक दर्शन की प्रासंगिकता

हुक्कम सिंह, गुरेन्द्र सिंह, राजनीति विज्ञान विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, हेमवती नन्दन बहुगुणा, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, खटीमा, उत्तराखण्ड, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Authors
हुक्कम सिंह
गुरेन्द्र सिंह

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 03/07/2023
Revised on : -----
Accepted on : 10/07/2023
Plagiarism : 03% on 03/07/2023

शोध सार

वर्तमान समय में भारतीय समाज में भारी आर्थिक विषमताऐं है, स्वतंत्रता के उपरान्त गरीब अधिक गरीब, तो वही अमीर और अधिकर अमीर बन गया, समाज में समता आने के स्थान पर गरीब अमीर की खाई और चौड़ी व गहरी हो गयी है। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने 'अर्थायाम' व्याख्यान का विवेचन करते हुए स्पष्ट करते है कि समकालीन संमय में पूँजीवाद, समाजवाद तथा बाजारवाद व उपभोक्तावादी जैसी आर्थिक व्यवसाय समस्या के रूप मे सामने आये तो विभिन्न प्रकार के जैसे– बेरोजगारी, गरीबी, अशिक्षा आदि समस्याओं का समाधान होना मुश्किल लग रहा है। इन सभी समस्याओं के विकल्प में भारतीय चिन्तन के आधार पर सहयोग हो सकता है।

मुख्य शब्द

पूंजीवाद, बाजारवाद, समाजवाद, उपभोक्तावादी, अर्थयाम.

प्रस्तावना

आज से लगभग 2000 वर्ष पहले भारतवर्ष की जीडीपी विश्व की जीडीपी में 33 प्रतिशत की हिस्सेदारी थी जो कि भारत देश की सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न देश था। आज के समकालीन समय में दृष्टिपात करेगें तो हम पायेंगे की समस्या के रुप में बेरोजगारी जैसे शब्दों का होना एकमात्र संयोग के ऊपर निर्भर होता था। 18वीं शताब्दी में भी भारत की जीडीपी विश्व की जीडीपी से एक चौथाई का हिस्सेदारी दर्ज किया था। जो आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक रुप से हम एक अच्छा जीवन व्यतीत कर रहे थे। परन्तु जैसे ही भारत के ऊपर ब्रिटिश शासन का प्रभाव पड़ा तभी भारत की सम्पूर्ण परिस्थिति पर कुठाराघात लगना

प्रारम्भ हो गया था।[1] भारत स्वतंत्रता के बाद भी भारत की सम्पूर्ण व्यवस्था पश्चिमी विचारधारा से आज भी ग्रसित महसूस होता दिखाई पड़ता है। हम आज अपने समृद्ध, सनातन, वैचारिकी को पीछे छोड़कर पश्चिमी विचारधारा को ही मात्रा विकास का एक मात्र पहलू मानने लगे हैं। हम अपने सनातनी सांस्कृतिक भाव को खारिज करते हुए भूलते जा रहे है। कालान्तर में 20वीं शताब्दी में देखा गया कि विश्व के सम्पूर्ण परिस्थिति पर खासकर भारत के संदर्भ में देखा जाय तो यह महसूस होता है कि इस कालखण्ड में घटनाएं बहुत ही तीव्र गति से घटित हुई है तथा परिवर्तन भी उसी दृष्टि से गति प्रदान किया है।[2] अतः इन सभी घटनाओं को एक बिन्दुवार के रुप में विश्लेषित किया जा रहा है:

1. 20वीं शताब्दि के कालखण्ड में आज के वैश्विक परिवेश में हम नजर दौड़ाए तो यह महसूस होगा की पूँजीवाद तथा साम्यवाद के उठापटक (उतार–चढ़ाव) के इतिहास की दृष्टि आपस में समेटे हुए है। परिणामस्वरूप यह मालूम हुआ कि व्यवस्थाओं में विश्वास का संकट का उदय हुआ और वैकल्पिक विकास का मॉडल अपने अस्तित्व में आया तथा इस पर लम्बी बहस प्रारम्भ किया गया।
2. इसी वैश्विक कालखण्ड में विकास का मॉडल एक लालच, लोभ अथवा भयातुरता के समान अति विघ्न मानसिकता की भी स्थिति को महसूस किया गया और भारतीय सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था को पैरों तले कुचला गया अर्थात् भारतीयता की जो लक्षण–आचरण था, ''मानवमूल्य'' का लोप हुआ है।
3. विश्व के पटल पर देखा जाय तो दो विश्व युद्ध का चर्चा करें तो यह पाते हैं कि पश्चिमी विचारधारा के प्रभाव से यूरोपिय देशों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के एशियाई तथा अफ्रीकी देशों को अपने उपनिवेश बनाकर इन दोनों देशान्तरों के संस्कृति तथा प्राकृतिक संसाधनों को बहुत ही नीतिपरकता से छिन्न–भिन्न कर दिया है अर्थात् उनकी सारी प्राकृतिक संसाधनों को लूटा है।
4. आज के वैश्विक परिस्थिति के बिगड़ने का एक कारण चतुरदृष्टि से सम्पन्न प्रबुद्ध लोग भी इसके जिम्मेदार व्यक्ति है, जो कि भ्रमपूर्ण जाल को बुनने का काम किया है।
5. गोरी साम्राज्यवादी ताकत के बल पर ही एशियाई और अफ्रीकी देशों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के इकाईयों का बहुत ही अधिक मात्रा में लोक व्यवस्थाओं को भी नष्ट किया गया है और पश्चिमी शैक्षणिक व्यवस्था को एक उत्तम एवं श्रेष्ठ बताकर उनके साथ छलावा किया गया है।
6. अतः 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी विचारधारा के लोगों का पतन हुआ तथा भारत के साथ–साथ विभिन्न औपनिवेशिक देशों के स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई तत्पश्चात् भारत की विकास मॉडल जब तैयार की गई तो उसमें भी पश्चिमी विचार को सम्मिलित किया गया जो कभी न छूटने वाली विचारधारा की भी भारत के विकास मॉडल में एक नीतिपरक की स्थिति में गठित की गई तो सिर्फ और सिर्फ घातक सिद्ध होगी।

आज के आधुनिक भारत के कर्णधार के रुप में विराजमान महात्मा गांधी, लोहिया और पं. दीनदयाल जैसे लोगों ने भारत को फिर से विवेचित, विश्लेषित करने का प्रयास किया है और एक श्रेष्ठ भारत की कल्पना की है। आप सभी ने स्वतंत्र भारत के विकास की दृष्टि को भारतीयता के आधार पर वैकल्पिक मॉडल पर विचार किया है। जिसमें आम सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि का समाधान की ओर बढ़ता दिखाई देता है।

1. इस तरह से पं. दीनदयाल उपाध्याय ने वैकल्पिक मॉडल में भारत भूमि के दर्शन को एकात्मता के सूत्र को अपने चार व्याख्यानों में उल्लिखित किया है। इसकी व्याख्या 22 अप्रैल, 1965 से 25 अप्रैल, 1965 में दिया था जो कि एक सम्यक विकास मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया जिसे ''एकात्म मानववाद'' के रूप में जाना जाता है।
2. पं. दीनदयाल उपाध्याय के द्वारा प्रणीत एकात्म मानववाद पूर्ण रूप से आदि शंकराचार्य के द्वारा स्थापित 'अद्वैत' वाद पर आधारित है जो कि अमूर्त, काल्पनिक और आदर्शात्मक जैसे भ्रमपूर्ण अर्थ के रुप में समझा जाता तो गलत है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने ''अर्थायाम'' व्यवस्था का विवेचन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि समकालीन समय में पूँजीवाद, समाजवाद तथा बाजारवाद व उपभोक्तावादी जैसी आर्थिक व्यवस्थाएं समस्या के रुप में सामने आयी तो विभिन्न प्रकार के जैसे– बेरोजगारी, गरीबी, अशिक्षा आदि समस्याओं का समाधान होना मुश्किल लग रहा था। इसके विकल्प में उदारवाद तथा नवउदारवाद जैसे शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है। इन सभी समस्याओं के विकल्प में भारतीय मनीषा और भारतीय चिन्तन के आधार पर सहयोग हो सकता है। अतः आधुनिक परिवेश में मानव जीवन के समस्त गतिविधियों का सर्वप्रमुख केन्द्र 'अर्थ' है।[3] अर्थ का चिन्तन मानव का आधारभूत इकाई है। भारतीय दर्शन में इसके साध्य न मान करके साधन के रूप में विश्लेषित किया गया है। लेकिन पश्चिमी विचारधाराओं के विद्वानों ने भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि केवल उपभोक्तावाद को ही आयाम मान कर मानव समाज को आंकना पूर्णतः गलत है और इसके आलोक में यह बात आयी है कि मध्यकालीन औद्योगिक यूरोपिय क्रान्ति के परिणामस्वरुप विभिन्नता लिए हुए नये–नये आर्थिक चिन्तकों का सूत्रपात हुआ, जो कि एक नई दिशा प्राप्त हुई, अर्थ के क्षेत्र में।

कार्ल मार्क्स, एडम स्मिथ तथा अन्य विचारकों ने अर्थ को आधार बनाकर अपने विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कार्ल मार्क्स ने यहाँ तक भी कह दिया कि मनुष्य तभी जीवित रह सकता है जब मनुष्य के पास आर्थिक भौतिकता से पूर्ण है। मार्क्स ने अपने चिन्तन में पाया कि आर्थिक व्यवस्था का पाया जाना उनके अस्तित्व का जन्मदाता है। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपने अर्थनीति में पश्चिमी देशों के विकासवादी मॉडल को कारपोरेट मॉडल के आधार पर मानते हैं और विकास की रुपरेखा, मुनाफा केन्द्रित तथा भौतिकतावादी से जोड़ते हैं लेकिन पं. दीनदयाल जी भारतीय विकास के मॉडल को एकात्म मानववादी विकास मॉडल में विश्वास रखते हैं तथा राज्य पर आधारित शासन व्यवस्था के मॉडल की ओर अपने आप को इंगित करने की कोशिश करते हैं। पं. दीनदयाल जी की विचार आत्मा में रामचरित मानस ग्रन्थ में उल्लेखित इस दोहे से स्पष्ट हो जायेगाः

''नहिं दरिद्र कोनु दुखी न दीना''

अर्थात् भगवान राम जी के रामराज्य में न कोई दरिद्र है, न ही कोई दुखी है, सभी सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पं. दीनदयाल जी इसी मॉडल के पक्षधर रहे हैं, राज्य ऐसा हो जहाँ सभी मानवता रुपी मॉडल को समानता से संयोजित किया जाय। अर्थात् हर हाथ को काम और हर पेट को भोजन मिले। सभी समान हो कोई असमानता न हो। पं. दीनदयाल जी द्वारा उचित एकात्म मानववादी विचारधारा में भारत की आत्मा दर्शन, वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, स्मृतियाँ तथा आधुनिक आध्यात्मिक चिन्तन जैसे दर्शन दिखाई मान पड़ता है।[4] पं. दीनदयाल जी ने एकात्म मानववादी दर्शन को व्यावहारिक विकास के मॉडल को विशेष रूप से महत्व दिया है। भारत के समावेशी एवं सर्वांगीण विकास के लिए आर्थिक चिन्तन में भारतीय अर्थव्यवस्था के हर एक महत्वपूर्ण पहलूओं पर अपने ध्यान आकृष्ट किये हैं। चूँकि पं. दीनदयाल जी ने पश्चिमी पूँजीवादी विचारों को सिरे से खारिज करते हैं।

अतः ये मशीनीकरण व औद्योगीकरण के प्रबल विरोधी थे। आपका कहना था कि उत्पादन की विशेषता अमेरिका आदि अन्य देशों में अधिक होने के कारण वहाँ पूँजीवाद जैसे स्थिति ने जन्म लिया तथा इस पूँजीवादी देशों में नित–नये घातक यंत्रों का निर्माण होना शुरु हो गया। यही यंत्र ने अन्य सभी देशों के लोगों ने अपनाना शुरु कर दिया, जिनसे विश्व का समाज एक बाजार का रूप धारण करता चला गया और मानव की हीनता वहीं दुर्बल होती चली आयी। चाहे वह फ्रांस की औद्योगिक क्रान्ति हो या रूस की क्रान्ति हो, वहाँ पर उत्पादन को अधिक महत्व दिया गया तथा मानव को कम महत्व दिया गया। जिससे आज विश्व का कोई ऐसा देश नहीं होगा, जहाँ पर बेरोजगारी, गरीबी, भ्रष्टाचार जैसे दानव का प्रचार–प्रसार न हो। यहीं से पं. दीनदयाल जी अपने अर्थनीति को भारत के संदर्भ में स्थापित करने की पूर्णत प्रयास करते हैं। इस पूँजीवादी समाज में राज्य की बहुत बड़ी भूमिका रही है। पूँजीवाद समाज के चाहे वह कोई भी विश्व का समाज क्यों न हो वहाँ पर समाज के जो मूल्य, सामाजिकता, सांस्कृतिकता को नष्ट कर दिया। समाज को एक विशेष पंक्ति में ला खड़ा कर दिया। जो कि पूँजीवाद ने मानव 132 के लिए घातक सिद्ध होता दिखाई दे रहा था।

यही पूँजीवादी मशीन ने लोगों को एक पूर्जे के रुप में आंका जाने लगा जिससे उपभोगवाद की नीति का

विकास होना प्रारम्भ हो गया। पूँजीवादी उत्पादन ने भारत की सांस्कृतिक निरक्षर जैसे– पारम्परिक, कला, हुनर को अपने फंदे में फाँस लिया। उन्हें नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। छोटे–छोटे उद्योग धन्धों को तबाह कर दिया, मजदूरों को बेघर कर दिया उन्हें बेरोजगारी के खाई में ढकेल दिया। पं. दीनदयाल जी का कहना था कि हमें इसी पूँजीवादी विचारधारा ने हमारी स्वतंत्रता को छीन लिया है। पं. दीनदयाल जी ने बाजार को एक छलावा मानते हुए स्पष्ट करते हैं कि बाजार ने हमारी समस्त गतिविधियों को स्टोर्स बना लिया है। आज के वैश्विक परिवेश में जहाँ एक ओर दर्जी के काम को रेडिमेड कपड़ा के रुप परिवर्तन हो गया। नाई जो परम्परागत रुप से अपने कर्म, काम को करता था वह आज सैलून के रुप में तब्दील हो गया अन्य सभी परम्परागत जो भी व्यवसाय थे आज इन्हीं बाजार के चलते उन्हें उनके काम को कठिन बना दिया है जिसमें सह–सम्बन्धों का टूटना निहितार्थ पाया गया है।[5] पं. दीनदयाल जी कहते हैं कि पिछले 200 वर्षों में भारत की अर्थव्यवस्था को देखा जाय तो मालूम पड़ता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था और पश्चिमी औद्योगिक देशों की अर्थव्यवस्था एक–दूसरे के पूरक हो गये है।

जिससे यह गतिविधि भारत का शोषण ही हुआ है न कि उसको विकसित किया गया है। इस शोषण का प्रमुख कारण है भारत के प्रबुद्ध एवं विशेषीकृत अभिकर्ता के रुप में साझीदारी थी। जो थोड़े से स्वार्थ के लिए जुड़े रहते हैं जिसमें प्रारम्भ में तो एक छोटे से एजेन्ट के रूप में होते हैं परन्तु कालान्तर में उद्योगपतियों से तथा विदेशी रणनीति ने अपने ओर झुकाव करके उन्हें अपने मन–मुताबिक आर्थिक हित कराने लगे। जिसका जघन्य प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत ही बड़ा कुठाराघात महसूस किया गया। पं. दीनदयाल जी का आर्थिक चिन्तन मूल रूप से समग्रतावादी है। वे मानव के विकासवादी मॉडल को महत्वपूर्ण मानते थे। पं. दीनदयाल जी अपने विचारधारा में 'मानव' को केन्द्र में रखते हैं और कहते हैं कि हमे ऐसा कोई विकास का मॉडल बनाना होगा जिसमें मानव केन्द्रित हो, जो कि 'मानव' को से केन्द्र में रखकर ही बनाना चाहिए।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पहले आर्थिक क्षेत्र पर आधिपत्य जमाकर फिर परोक्ष रुप से राज्य पर अधिकार करती है तो समाजवाद राज्य को ही सम्पूर्ण उत्पादनों का स्वामी बना देता है। दोनों व्यवस्थाएं व्यक्ति के प्रजातांत्रिक अधिकार एवं उसके स्वास्थ्य के विकास के प्रतिकूल हों, उनके अनुसार व्यवहार में पूँजीवाद एवं समाजवाद दोनों ही लोकतंत्र व संस्कृति का निषेध करते हैं। पं. दीनदयाल जी पश्चिमी देशों में जो पूँजीवाद है उसको लेकर चिन्तन करते हुए कहते हैं कि– पश्चिम से जो मशीनें हमें मिलती हैं वे इन देशों द्वारा पिछली की कई शताब्दियों में विकसित की गई है। उनका मानवीकरण करके वे आज बाजार में बेंच रहे हैं। हम उन्हें खरीदते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि वे एक लम्बे आर्थिक विकास का कारण नहीं उसके परिणामस्वरुप हैं। पं. दीनदयाल जी का मानना है कि हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि हमें अपने पारम्परिक हस्तकलाओं जो जागृत रखना चाहिए तथा पुरानी पद्धति से सम्बन्धित जितने भी यंत्र हो, उन्हें अपने उत्पादन व्यवस्था में लगानी चाहिए।[6] हमें पूँजीपतियों के अनुसार दिये गये यंत्रों का प्रयोग उनके अधिनायक बना देते हैं और इससे हमारी अर्थव्यवस्था में अंकुश लगना प्रारम्भ हो जाता है। हमारी मशीन हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही नहीं अपितु हमारे सांस्कृतिक एवं राजनैतिक जीवन मूल्यों की पोषक नहीं तो कम से कम अविरोधी अवश्य होनी चाहिए अर्थात् जब कभी भी मशीनीकरण जैसे यंत्रों का प्रयोग होता है तो एक केन्द्रीकृत की स्थिति पैदा हो जाती है। पूँजीवादी जैसी स्थिति पैदा होना प्रारम्भ हो जाता है। पं. दीनदयाल जी ने अपने अर्थनीति में कहते हुए भारत में परम्परागत कृति यंत्रों परम्परागत कुटीर उद्योगों एवं लघु उद्योगों तथा विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था को ही सर्वप्रमुख रुप से प्रयोग करना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत पं. दीनदयाल जी कहते हैं कि हमें हमारे देश अर्थनीति में विदेशी नीति को जरा मात्र भी प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इससे भारतीय औद्योगिक तथा परम्परागत कृषि हो, कुटीर उद्योग हो, सभी नष्ट हो जाते हैं। पं. दीनदयाल जी कहते है कि– हमारे देश को विदेशी पूँजी के बल पर औद्योगीकृत नहीं किया जाना चाहिए। विदेशी पूँजी के राजनैतिक के साथ–साथ आर्थिक प्रभाव भी अशुभ होते हैं। विदेशी पूँजी का विनियोग स्वदेशी श्रम का शोषण करता है। बड़े उद्योग व विदेशी पूँजी का विनियोग हमारे यहाँ पश्चिमी प्रकार के शोषणवादी पूँजीवाद को उत्पन्न करेगा। पूँजीवाद के सभी देशों का हमारे समाज में प्रवेश हमारी सामाजिक संस्कृति के लिए बहुत विषैला होगा। पं. दीनदयाल जी का कहना है कि आज के परिदृश्य में देखा जाय तो महसूस किया जा सकता है कि भारत के साथ–साथ अन्य

विकासशील देशों में पूँजीवादी एवं समाजवादी विचारधाराएँ प्रबल रूप से विकसित हो रही है। जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि वहाँ की अर्थव्यवस्था का एक केन्द्रीकरण होता चला जायेगा, जिससे उनके (विकासशील देशों) परम्परागत अर्थव्यवस्था नष्ट हो जायेगी और उनकी स्थिति में अंकुश लगना प्रारम्भ होगा। इससे उनके कर्तव्यभाव तथा व्यावहारिक स्थिति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जायेगा। इस प्रकार केन्द्रीकरण हो जाने के बाद देश के अखण्डता, कर्तव्यपरायणता, नागरिकों का सम्मान व देश भाव घटना प्रारम्भ हो जाता है। वर्तमान समाजवाद तथा पूँजीवाद दोनों में स्वामित्व के स्वरुप का अन्तर छोड़कर और कोई फर्क नहीं है। अतः दोनों में ही व्यक्ति के विकास की सुविधा नहीं है। पं. दीनदयाल जी ने अपने अर्थनीति की वकालत करते हुए सहमती देते हैं कि हमें पूँजीवादी व समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं को नहीं अपनाना चाहिए। यह सब मानव को विकास नहीं नाश की ओर ढकेलता है, हमें इनसे बचने की जरुरत है। पं. दीनदयाल 'समग्र मानववाद' के आधार पर ही अर्थनीति की वकालत करते है और स्वयं कहते हैं कि हमें विकेन्द्रीकृत व आर्थिक नीति तथा लोकतंत्रात्मक अर्थव्यवस्था के पक्ष में ही चाहिए जिससे समाज में उदण्डता आती है। पं. दीनदयाल जी पश्चिमी पूँजीवाद व समाज के प्रबल विरोधी थे जो कि भारत के संस्कृति एवं लोकतंत्र पर एक विषैला साधन के रूप में मानते हैं। पं. दीनदयाल जी भारतीय संस्कृति के पुरजोर समर्थक हैं और भारतीय परम्परागत जीवन शैली का समर्थन देते हुए कहते हैं कि हमें अपनी अर्थनीति जैसे जीवनशैली के रुप में परम्परा, संस्कृति, मूल्य को जीवित रखना चाहिए।

पं. दीनदयाल हमेशा से बड़े उद्योगों से ज्यादा छोटे उद्योगों को स्थान दिया है। उनका मानना था कि हमें छोटे उद्योगों के आधार पर ही बड़े–बड़े कल कम्पनियों में जैसे जापान में 75 प्रतिशत एवं मोटर निर्माण में 62 प्रतिशत तथा रेलगाड़ी बनाने के लिए करीब 77 प्रतिशत का योगदान इन्हीं छोटे–छोटे उद्योगों के आधार पर किया जाता है इसलिए हमें छोटे–छोटे उद्योगों को महत्व ज्यादा देनी चाहिए जो कि बडे उद्योगों में छोटे उद्योगों का काम दोनों का मेरुदण्ड के रुप में काम करती है। वे इसका सर्वप्रमुख कारण विकेन्द्रीकरण अर्थव्यवस्था को मानते हैं। इसी के आधार पर सामाजिक न्याय तथा स्वदेशी स्वावलम्बन की ओर बढ़ सकते हैं। पं. दीनदयाल का कथन था कि आज के आधुनिक परिवेश में अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना है तो हमें स्वदेशी मॉडल तथा विकेन्द्रीकरण जैसे विकासपूर्ण रवैया अपनाना होगा। इसी को दीनदयाल जी प्रमुखता से पहल करना चाहते हैं। स्वदेशी मॉडल से यहाँ तात्पर्य यह है कि भारत देश के जो परम्परागत उद्योग धन्धे, कृषि जोत के यंत्र पद्धति तथा हस्तकला जैसे छोटे–छोटे कारीगर जो कि हाथों के द्वारा कार्य किये जाने वाले हैं। परम्परागत रूप से चाहे वह जीविकोपार्जन हेतु कोई भी क्रियाविधि हो, जैसे कृषि है जिसके हल, बैल, कुदाल अन्य कई यंत्र है जिनसे खेती की जाती थी। वहीं दूसरी ओर परम्परागत व्यवसाय जैसे नाई का काम बाल काटना, पण्डित का यजमान के द्वारा पूजा पाठ कराना, मजदूर का मालिक के खेत पर मजदूरी करना अर्थात् ये सभी परम्परागत रुप से जो व्यवसाय थे एक–दूसरे पर निर्भर रहा करते थे। एक दूसरे के प्रति एकात्म का भाव बना रहता था। यही पं. दीनदयाल जी का सर्वप्रमुख मुद्दा रहा है। उनके द्वारा उचित 'एकात्म मानववाद' जैसा सिद्धान्त लागू होता दिखाई देता है। पं. दीनदयाल जी का कथन था कि हर पेट को भोजन और हर हाथ को काम होना चाहिए तब जाकर हम एक नये समाज राष्ट्र का निर्माण कर सकेंगे।

अतः पं. दीनदयाल जी का यह सम्पूर्ण विचार का सार 'समाजपरक तथा मानव प्रधान' के रूप में सृजित हैं। वह चाहे अर्थव्यवस्था की बात हो या फिर राजव्यवस्था की बात हो। वहां अगर विकेन्द्रीकरण तथा स्वदेशी मॉडल का निर्माण किया गया तो हम एक श्रेष्ठ भारत का निर्माण कर सकते है, क्योंकि खुली आर्थिक प्रतिस्पर्धा पूँजीवादी विचारधारा का जन्म माना जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था एक व्यक्तिवादीता को जन्म देता है, जिससे समाज में विकृतियाँ बढ़ेंगी, असमानता प्रबल रूप से जन्म लेगी, प्रतिस्पर्धा का कट्टरपंथी विचारधारा पनपेगी और समाज असमानता की ओर बढ़ेगा। यहीं पूँजीवादी व्यवस्था समाज में अमानवीकृत घटना को जन्म देती है, एक सम्यक् समाज का निर्माण करने में बाधा उत्पन्न करती है। पं. दीनदयाल जी भारतीय संस्कृति के बारे में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भारतीय समाज में 'सुजस्य मूलम् धर्मः' के रूप में माना जाता है। भारत की विशेषता रही है कि भारत में जो कुछ भी परिस्थिति रही है उनको हम मूल्य, संस्कृति, समाज के दायरे में रह कर ही करते हैं चाहे इसके लिए कितना ही हमें नुकसान होना पड़े, क्योंकि हम 'वसुधैव कुटुम्बकं' जैसे विचारधारा से जुड़े होते हैं। सबका

न्यायपूर्ण अधिकार होता है। पं. दीनदयाल जी एक ऐसे दल का नेतृत्व करने वाले नेता थे, जो संस्कृतिवादी को मानने वाले थे, वे भौतिकवादी मार्ग पर चलकर पाश्चात् मार्गों पर चलने वाले नहीं थे। स्वतंत्र भारत के कालखण्ड की आर्थिक विकास नीति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि स्वतंत्रता के दौरान भारत की जो आर्थिक विकास का जो मॉडल था वह कारगर साबित नहीं हो सका। वह पूर्णरूप से समाज में व्याप्त बेरोजगारी, गरीबी तथा मूलभूत आर्थिक समस्याओं का निराकरण करने में असमर्थ रहा है। इसका विवेचन पं. दीनदयाल जी ने अपनी पुस्तक में किया था। भारत की अर्थनीति के सम्बन्ध में डॉ. राम मनोहर लोहिया जी ने भी अपने व्याख्यान में व्यक्त किया है कि– लघु इकाई की विधि के पीछे परेशान होने या धीरे–धीरे उन्नत करने के अलावा अमेरिका का विज्ञान कोई दूसरा औद्योगिक आधार नहीं दे सकेगा, जो अधिक सबल, उत्पादन, वितरण और रक्षा को धारण कर सके।[4] पं. दीनदयाल जी ने अर्थनीति की व्याख्या भारत के संदर्भ में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भारत की अर्थव्यवस्था का स्तर कालान्तर में जो उठापटक हो रहा है उसका मूल कारण है पश्चिमी औद्योगीकरण का समावेशन जिससे भारत की पराकाष्ठा मूल्य, संस्कृति के साथ छोटे–छोटे जो कुटीर उद्योग, हस्तकला का विलुप्त होना है, जिसके कारण मशीनीकरण ने उन्हें जकड़ रखा है।

अन्त्योदय

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी अर्थ नीति में 'अन्त्योदय' की व्याख्या बहुत ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अन्त्योदय का अर्थ होता है 'अन्तिम पंक्ति में बैठे व्यक्ति के सर्वांगीण विकास' से होता है। जब यदि समाज में रह रहे लोगों के बीच में सबसे छोटे गरीब, किसान अन्य को उसका विकास होने लगे चाहे वे सामाजिक हो, आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो, राजनैतिक आदि विभिन्न पहलू हो, से होता है। लाभप्रद हो तो उसे पं. दीनदयाल जी की अन्त्योदय का नाम देते हैं। अन्त्योदय पं. दीनदयाल जी के अर्थनीति से एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रुप में उल्लेखित है। पं. दीनदयाल जी कहते हैं कि ''प्रत्येक को वोट जैसे राजनीतिक प्रजातंत्र का निष्कर्ष है वैसे ही प्रत्येक को काम यह आर्थिक प्रजातंत्र का मापदण्ड है।'' अतः पं. दीनदयाल जी ने प्रत्येक काम को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– ''काम प्रथम तो जीविकोपार्जनीय हो तथा दूसरे व्यक्ति को उसे चुनने की स्वतंत्रता हो। यदि काम के बदले में राष्ट्रीय आय का न्यायोचित भाग इसे नहीं मिलता हो तो उसके काम की गिनती 'बेगार' में होगी। इस दृष्टि से न्यूनतम वेतन, न्यायोचित वितरण तथा किसी न किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है।'' पं. दीनदयाल जी ने अपने अर्थनीति के सम्बन्ध में अपने विचार को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ''अर्थस्य पुरुषोः दासः।'' अर्थात् पुरुष अर्थ का दास हो सकता है। उन्होंने स्पष्ट मतों को व्यक्त करते हुए कहा है कि आर्थिक स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता परस्पर एक दूसरे के ऊपर स्वतंत्र रूप से अन्योन्याश्रित है। जब व्यक्ति उत्पादन कर्म में आधार महसूस करता है तो उस प्रकार उत्पादन गतिविधि को अलोकतांत्रिक कहते है। इसलिए उत्पादन स्वतंत्र रूप से होना चाहिए। मालिक मजदूर की दूरी को कम करना चाहिए। पं. दीनदयाल अपने अर्थनीति को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट करते हैं कि आज के परिवेश में हम पश्चिमी औद्योगीकरण जैसे समस्त गतिविधियों का अनुकरण करना सीख गये हैं, जो की भारतीय परम्परा का कुठाराघात लगा है।

संस्कृति मृत होने की स्थिति में है, पं. दीनदयाल जी कहते हैं कि हमने पश्चिम की तकनीकी प्रक्रिया का आँखमूंद कर अनुकरण किया है। हमारे उद्योग का स्वाभाविक विकास नहीं हो रहा है। वे हमारी अर्थव्यवस्था के अभिन्न अन्योन्याश्रित अंग नहीं अपितु ऊपर से लादे गये हैं। इसका विकास विदेशियों के अनुकरणीय सहयोगी अथवा अभिकर्त्ता कतिपय देशी व्यापारियों द्वारा हुआ है। यही कारण है कि भारत के उद्योगपतियों में सब के सब व्यापारी आढ़तियों तथा सटोरियों में से आये हैं। उद्योग एवं शिल्प में लगे कारीगरों का विकास नहीं हुआ है। अतः पं. दीनदयाल उपाध्याय जी का मानना था कि सर्वप्रथम हमें अपने विकास (भारत के संदर्भ में) हेतु विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था जैसे व्यवस्था को अपनाने की जरुरत है। नहीं तो पश्चिमी देशों के औद्योगीकरण अलोकतांत्रिक जैसे दानव ने भारत के शिल्पीकार कारीगरों को अपने मुँह का कौरा बना लेगा। अतः यही पूँजीवादी एवं समाजवाद के निजीकरण ने स्वयंसेवी क्षेत्र के विकास को ध्वस्त कर दिया है। पश्चिमी अर्थव्यवस्था की विशेषता रहीं है माँग का, जो कि विध्वंसक साबित होता है। अर्थव्यवस्था के लिए पं. दीनदयाल उपाध्याय का कहना है कि मशीनीकरण ने

मानव समाज को उसके सम्पूर्ण गतिविधि को छला है। अतः इन्होंने मशीनीकरण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि: जहाँ एक ओर मशीन के श्रद्धालु मुक्त हैं तो दूसरी ओर कट्टर दुश्मन भी मौजूद हैं एक मशीन के अभिनवीकरण के अभाव को ही भारत की गरीबी का कारण मानकर चलते हैं तो दूसरे अभिनवीकरण और यंत्रीकरण को ही देश के विनाश के लिए जिम्मेदार मानते हैं। वास्तव में मशीन न तो मनुष्य का शत्रु है न ही मित्र। वह एक साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियों की क्रिया–प्रक्रिया पर निर्भर करती है। पं. दीनदयाल जी ने अपने मशीनीकरण के विश्लेषण को और भी गम्भीरता से प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि पश्चिम से जो मशीनें हमें मिलते हैं, वे उन देशों द्वारा पिछली कई शताब्दियों में विकसित की गई। उनका मानकीकरण करके वे आज बाजार में बेंच रहे हैं। हम उन्हें खरीदते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि वे एक लम्बे आर्थिक विकास का कारण नहीं, उसके परिणामस्वरुप है। अतः पं. दीनदयाल जी यंत्रारोपण के बजाय स्वदेशानुकूल यंत्रों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार से पं. दीनदयाल जी ने मशीन को हानि होने से बचाना चाहते हैं। मशीनीकरण अर्थव्यवस्था को केन्द्रिकृत कर देता है जिनसे पूँजीवादी औद्योगीकरण का विकास होता है। अतः हमें विकेन्द्रीकरण की स्थिति उत्पन्न करना चाहिए और हमें विकेन्द्रीकृत तथा कुटीर एवं स्वविकसित छोटे लघु उद्योगों का विकास करना चाहिए।

आदर्शपूर्ण एवं समन्वित अर्थायाम

पं. दीनदयाल जी चूँकि पश्चिमी औद्योगीकरण को नकारते हुए भारतीय संदर्भ में जो आदर्शपूर्ण एवं समन्वित ''अर्थायाम'' का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं वह भारत के पम्परागत व्यवसायों को अवसर मानकर स्पष्ट करते हुए बिन्दुवार इस प्रकार करते हैं:

1. अर्थायाम।
2. काम का मूलभूत कर्तव्य एवं अधिकार 'सबको काम'।
3. उपभोगवाद, स्पर्धावाद व वर्गसंघर्ष का निषेध।
4. स्वामित्व को नहीं, स्वामित्व के केन्द्रीकरण का सवाल।
5. कोई स्वामित्व समाज निरपेक्ष नहीं, कोई व्यक्ति स्वामित्व निरपेक्ष नहीं, न्याय सिद्धान्त।
6. पूँजीवाद व समाजवाद का निषेध।
7. आर्थिक लोकतंत्र।
8. अर्थसूत्र– ज×क×य = ई।
9. भारी औद्योगीकरण का निषेध।
10. विकेन्द्रीकरण अर्थव्यवस्था एवं लघु उद्योग।
11. अपर यांत्रिक उद्योग एवं उत्पादन।
12. अदेवमात्र का कृषि।
13. स्वयंसेवी उत्पादन क्षेत्र।
14. श्रमिकों का स्वामित्व।
15. अर्थ संस्कृति।

भारत की वर्तमान आर्थिक–सामाजिक दृष्टिकोण

पं. दीनदयाल जी ने अपने भारत के अर्थनीति की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि भारत के अब तक शासनानुसार कई योजनाएं चलाई गई है लेकिन गत वर्ष तक निर्धन की स्थिति और भी विकट संकट में पड़ता जा रहा है। करीब 20 करोड़ के आस–पास निर्धनता रेखा के नीचे लोग जीवन–यापन कर रहे है। अतः देखने से स्पष्ट है कि गरीबी और निर्धनता की स्थिति में जो विषमता बढ़ती जा रही है चूँकि आक्सफोर्ड इनेक्वालिटी रिपोर्ट (2012) यह दर्शाया गया है कि 2017 में सृजित कुल सम्पत्ति में धनी 1 प्रतिशत लोगों का हिस्सा 73 प्रतिशत था। वी. सी. भट्टाचार्या ने एक रिपोर्ट में स्पष्ट करते हुए कहते हैं। आज के वैश्विक दौर में जो बेरोजगारी का मुद्दा है वह और

भी दयनीय स्थिति में है। अतः रोजगारहीन विकास के कारण व्यापक बेरोजगारी है। पूँजी गहन तकनीक का प्रयोग विकास की मजबूरी बन गई है। अतः उपरोक्त रिपोर्ट को देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि देश में स्वास्थ्य, शिक्षा, विकास, कुशलता, बेरोजगारी कि स्थिति में काफी गिरावट आयी है जो मानव विकास सूचकांक के लिए सही नहीं है। इन सभी से छोटे अर्थात् निचले वर्ग के लोगों की सम्पूर्ण दैनिक गतिविधि को प्रकाशित किया है जिससे उनकी सामाजिक आवश्यकताओं की वस्तुएं हैं वह पूरी नहीं हो पाती हैं। भारत जैसे विकासशील देश में (आर्थिक परिवेश में) जो अर्थव्यवस्था की सामंजस्यता की स्थिति उत्पन्न होने का कारण टी. एस. पापुला (2006) में रिपोर्ट का सर्वे किया और पाया कि देश में सेवा क्षेत्र आधारित विकास होने के कारण वस्तु अन्तराल तथा इस क्षेत्र में निवेश की रोजगार लोचकता अत्यन्त कम होने के कारण अल्प रोजगार सृजन फलतः व्यापक बेरोजगारी हो रही है।

फलतः स्पष्ट होता है कि भारत की आधुनिक अर्थव्यवस्था में जो सामाजिक, राजनैतिकता के साथ–साथ जो गिरावट सामने आ रही है उसका मूल कारण है पश्चिमी देशों का अनुकरणीय संवेदना है जो कि भारत की सम्पूर्ण संस्कृति को तबाह किया है। साथ ही चाहे भारत की कृषि व्यवस्था हो, चाहे मूलभूत आवश्यकता हो वह आज के नगरीकरण तथा औद्योगीकरण ने जकड़ रखा है। जिसके कारण इस अन्धी विकास ने भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, कालाबाजारी, हिंसा, लोक लालच, असहिष्णुता तथा निर्धनता की स्थिति में विकास हुआ है। इसके साथ ही समाज के प्राथमिक इकाई का भी दोहन हुआ है जिसमें परिवार, राष्ट्र, देश विभिन्न नियंत्रित संस्थागत ढांचों और धर्म में काफी मात्रा में कमी आई है। उपरोक्त समस्याओं के परिदृश्य को देखकर पं. दीनदयाल जी ने व्यक्त किया है कि– वास्तव में भारत के भाव संसार, भौतिक आवश्यकताओं, यहाँ के जीवन–दर्शन तथा उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों आदि को दृष्टिगत रखते हुए हमें न तो पश्चिम विकास मॉडल की आवश्यकता थी और न हीं हमारे लिए वे अनुकूल थे। पश्चिमी देशों ने अपने आवश्यकतानुसार आविष्कार किया। हमने पश्चिम में हुए आविष्कार के अनुसार अपनी आवश्यकता बना लिया। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी तर्क देते हुए स्पष्ट करते हैं कि पश्चिम में जनसंख्या कम होने के कारण मजदूरों की कमी थी। उन्होंने मशीनों का आविष्कार किया। हमारे पास पर्याप्त मजदूर थे, लेकिन पश्चिम के मशीन का अनुकरण करके, हमने अपने श्रमिकों को बेरोजगार कर दिया। बजरंग लाल गुप्त ने अपने एक पुस्तक में स्पष्ट किया है कि पश्चिमी में अति दृष्टिपात– अति उपभोग का आदर्श जिसकी वास्तविक लागत काफी अधिक है। एक अमेरिकी नागरिक प्रतिदिन अपने वजन के बराबर समान का उपयोग करता है और 13 वर्ष से कम आयु का बच्चा प्रतिवर्ष 230 डॉलर जेब 145 खर्च के रूप में प्रयोग करता है जो विश्व के अनेक देशों के प्रतिव्यक्ति जीडीपी से अधिक है। परिणामस्वरूप स्पष्ट है कि आज के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में पश्चिमी देशों के सम्पूर्ण गतिविधि एशियाई समाज के लोगों पर बड़े प्रबल रूप से जकड़ लिया है।

भारत के संदर्भ में विकास मॉडल

पं. दीनदयाल जी भारत के संदर्भ में विकास का मॉडल बनाने के लिए 'अन्त्योदय' तथा 'अर्थायाम' जैसे अवधारणा को पेश करते हुए कहते हैं कि किसी देश का विकास उस देश में करोड़पतियों की संख्या से नहीं बल्कि सबसे निचले पायदान पर स्थित व्यक्तियों की स्थिति द्वारा मापा जाना चाहिए। इसके लिए अन्त्योदय जरुरी है, पं. दीनदयाल जी ने कहा कि विकास के केन्द्र में व्यक्ति केन्द्रित हो जिसमें शक्ति निहित होने के कारण राष्ट्र को विकास के मार्ग पर ले जाया जा सके। चूँकि व्यक्ति का समाज, राष्ट्र, प्रकृति तथा जैविक से परमेष्टि तक सम्बन्ध होता है जो कि अविभाज्य होने के कारण भावपूर्ण व शोषण मुक्त समाज की कल्पना की जा सकती है।

हमें सभी विचारों चाहे वह पुरातन हो या नये नीति निर्माण सभी को सम्मिलित करके उन्हें पुनः विचारानुसार जैसा भी युगानुकूल रूप से तथा स्वदेशानुकूल होना चाहिए। विचार करके ही हम एक समन्वित विकस की कल्पना कर सकते हैं। एक श्रेष्ठ समाज को गढ़ा जा सकता है। इन्होंने विकास की अर्थनीति को विश्लेषित करते हुए व्याख्या करते हैं कि विकास का अर्थ होता है समन्वित विकस। इसका मूल अर्थ समग्र सामाजिक सुख में वृद्धि करना है। जिससे व्यक्ति के सुख, शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा जैसे दर्शन दृष्टिकोण, सामाजिक, मानवीय मूल्य, व्यवहार की रचना करके उनमें समभाव की अवधारणा को सृजित करना है। हमें सकल सामाजिक सुख जैसे मॉडल को तैयार

करना होगा। इसी के आधार पर हम जैसा देश वैसा भाव होने चाहिए जिससे व्यक्ति अपने युगानुकूल समस्या का समाधान कर सके। अतः विकास का मॉडल भौतिक संसाधनों के अनुसार नहीं करना चाहिए अपितु उक्त देश के समाज, संस्कृति, मूल्यानुकूल होना चाहिए। पं. चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के माध्यम से स्पष्ट किया है कि किसी भी राष्ट्र का विकास योग, क्षेम व्यवस्था का पालन करना चाहिए अर्थात् एक मानव जीवन का जो मूलभूत ईकाई है रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, सम्मान आदि के अनुरूप होना चाहिए तभी एक स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। वह समन्वित विकास कहलाता है।

अतः पं. दीनदयाल जी ने अपने आर्थिक चिन्तन में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– भारतीय संस्कृति के संदर्भ में काम और अर्थ में व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि तथा परमेष्टि की एकात्मकता तथा जैविक, सम्बन्धों में विश्वास होना चाहिए। अतः अर्थ विकृति को अर्थासंस्कृति के अनुरूप चलना होगा। इससे जो वैचारिकी तथा संस्कृति स्थापित होगी, वह होगीः

- जन्मा है वह खायेगा।
- कमाने वाला जिलायेगा।
- जो जायेगा वो कमायेगा, मशीन मनुष्य की सुविधा के लिए है, उसका स्थान लेने के लिए नहीं।

मनुष्य मशीन का निर्माता है, उसका स्वामी है, उसका गुलाम नहीं। उत्पादन के साधन की दृष्टि से उसका दृष्टिकोण अवश्य है, किन्तु वह मनुष्य को खाकर नहीं उसे खिलाकर होना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य श्रम और मशीन में एक। समन्वय होना चाहिए, जो प्रत्येक समाज धीरे–धीरे करता जाता है। ज्यों–ज्यों उद्योगों की उन्नति होती जाती है, उनको बाजार मिलता जाता है, मनुष्य स्वयं मशीनों का सहारा लेता है, किन्तु जब यही अस्वाभाविक रुप से किया जाता है तो हानि होती है। अतः भारत में कुटीर और ग्रामोद्योग ही हमारे केन्द्र हो सकते है। बड़े–बड़े उद्योग इन उद्योगों के हित में जहाँ चलाना आवश्यक हो, चलाये जाए, किन्तु इनके प्रति स्वार्थी बनकर नहीं। इन सभी से समाज में एक नये संस्कृति का विकास होगा, लोगों में एक दूसरे के प्रति एकात्मकता आयेगी साथ ही हर पेट को रोटी, हर खेत को पानी की आवश्यकता की पूर्ति होगी। साथ ही जब प्रत्येक को रोटी, प्रत्येक को खेत मिलेगा तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि हर हाथ को काम मिलना प्रारम्भ हो जायेगा। इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होगा, सभी को रोजगार मिलेगा।

स्वामित्व के प्रभाव में कमी आयेगी और स्वरोजगार की स्थिति सकारात्मक रुप से बढेगी जिससे एक स्वस्थ समाज का निर्माण होगा। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मकता की वृद्धि होगी। एक कुशल शासन, प्रशासन, गतिविधि चाहे राज्य हो, धर्म हो, सभी एकात्मकता की गठरी में बंधते चले जायेंगे। यही पं. दीनदयाल जी के एकात्म मानववादी विचारधारा की आधारशिला साबित होगी। वे चाहते थे कि एक नये ऊर्जापूर्ण भारत का निर्माण हो। हमें मनुष्यत्व का संरक्षण करना हो तो उसे सबसे पहले यंत्र की दासता से मुक्त कराना होगा। आज मनुष्य यंत्रों पर शासन नहीं कर रहा, यंत्र उस पर शासन कर रहे हैं। यंत्र के इस मोह के पीछे पड़ जाने के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को अधिकतम बढ़ाने तथा तृप्त करने के लिए दौड़–धूप करता है इसीलिए सम्पूर्ण मानव–जीवन का विचार करते समय हमें 148 उत्पादन, वितरण तथा उपभोग, तीनों का एकत्रित विचार करना होगा। उत्पादन तथा उपभोग दोनों को, सार्थक जीवन जीते हुए प्राप्त कर ऐसी अर्थव्यवस्था हमें विकसित करनी होगी।

विकेंद्रित अर्थव्यवस्था

मनुष्यता की व्याख्या कठिन है, अनेक बातें समान होते हुए भी प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ विशिष्टता है। उसकी विविधताओं का विचार आवश्यक है। भारतीय संस्कृति ने एक विचार किया है कि मनुष्य विविधताओं का स्वाभाविक विकास करते हुए भी आन्तरिक एकात्मा की अनुभूति करता चले। व्यक्ति की स्वतंत्रता सर्वप्रथम है।[6] जब टाटा–बिरला, व्यक्ति स्वातंर्त्य या मुक्त प्रेरणा की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है, उनकी अपनी स्वतंत्रता, उनके कारखानों में गुलाम बने हुए लाखों–करोड़ों मजदूरों की स्वतंत्रता नहीं। हमें तो लाखों–करोड़ों मानवों की

स्वतंत्रता का विचार करना है। शक्ति चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, केंद्रीकरण से व्यक्ति स्वातंत्र्य समाप्त हो जाता है। पूँजीवाद में धीरे–धीरे मुक्त प्रतियोगिता समाप्त होकर आर्थिक शक्ति पर कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। अमेरिका आदि पूँजीवादी देशों में जो बड़े–बड़े औद्योगिक साम्राज्य बसे हुए हैं, उनकी क्या स्थिति है? आज जितने Anti Trust Laws अमेरिका में बनाने पड़ें हैं उतने कहीं भी नहीं है, वहाँ व्यवहार व्यक्तियों के साथ नहीं, फाइलों के साथ होता है।[7]

आर्थिक शक्ति को राज्य के हाथों में सौंपने वाले समाजवाद में भी ऐसा ही होता है। राज्य की नौकरशाही भी यही करती है। परिणाम हो रहा है कि जीवन यंत्रवत् होता जा रहा है। मनुष्य का स्थान फाइलें ले रही है, मानवता समाप्त होती जाती है। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्य का विचार होता है तो परिमाणात्मक आधार पर न कि गुणात्मक आधार पर। स्वयंसेवी क्षेत्र जितना बड़ा होगा उतना ही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा, मनुष्यता का विकास हो सकेगा, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का विचार कर सकेगा। प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिशतः आवश्यकताओं और विशेषताओं का विचार करके उसे काम देने पर उसके गुणों का विकास हो सकता है। यह विकेंद्रित अर्थव्यवस्था भारत ही संसार को दे सकता है। आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता समाप्त हुई तो राजनीतिक क्षेत्र में भी समाप्त हो जाती है। समाजवाद और प्रजातंत्र साथ–साथ नहीं चल सकते। सच्चे प्रजातंत्र का आधार आर्थिक विकेन्द्रीकरण ही हो सकता है।[8] अतः सिद्धान्ततः हमें छोटे–छोटे उद्योगों को ही अपनाना चाहिए। यदि अधिक आदमियों का उपयोग करने वाले छोटे–छोटे कुटीर उद्योग अपनाये गये तो कम पूँजी तथा मशीनों की आवश्यकता पड़ेगी, जिससे नौकरशाही का बोझ कम होगा, विदेशी ऋण को भी नहीं लेना पड़ेगा, देश की सच्ची प्रगति होगी तथा प्रजातंत्र की नींव पक्की हो सकेगी।

अर्थ और धर्म का सम्बन्ध अर्थ का अभाव और प्रभाव

अर्थ के अभाव के समान ही अर्थ का प्रभाव भी धर्म पर घातक होता है। प्रभाव का अर्थ, आधिक्य मात्र नहीं है, जब व्यक्ति और समाज में अर्थ साधन न रहकर साध्य बन जाय तथा जीवन की सभी विभूतियाँ अर्थ से ही प्राप्त हो, तो वहाँ अर्थ का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है और वह अर्थ संचय के लिए नानाविध पाप करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास अधिक धन है, उसके विलासी बन जाने की संभावना अधिक रहती है। जिस व्यक्ति को अर्थ के सदुपयोग का ज्ञान नहीं होता, वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। जहाँ 'गौण 150 अर्थ' अर्थात् मुद्रा तथा उपभोक्ता वस्तुओं के लिए लगने वाली उत्पादक वस्तुओं का अधिकार हो, वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। इसके लिए शिक्षा संस्कार, दैवी संपदायुक्त व्यक्तियों का निर्माण तथा अर्थव्यवस्था का उपयुक्त ढाँचा सभी का सहारा लेना जरुरी होता है।

अर्थ और धर्म–एक दूसरे के पूरक

धर्म महत्वपूर्ण है, परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्थ के अथाव में धर्म भी नहीं टिक पाता। एक सुभाषित है कि ''बुभुक्षितः किं न करोति पापं'' अर्थात् भूखा व्यक्ति हर पाप कर सकता है। अतः हमारे यहाँ आदेश है कि अर्थ का अभाव नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह धर्म का द्योतक है। इसी प्रकार दण्ड नीति का अभाव अर्थात् अराजकता ही धर्म के लिए हानिकारक होती है। अतः राज्य की स्थापना धर्म के लिए अत्यन्त आवश्यक है।[9]

ग्रामीण विकास से ही भारत का विकास संभव

आर्थिक योजनाओं तथा प्रगति का माप समाज के ऊपर की सीढ़ी पर पहुँचे व्यक्ति से नहीं, बल्कि सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगा। आज देश में ऐसे करोड़ों मानव हैं, जो मानव के किसी भी अधिकार का उपभोग नहीं कर पाते। शासन के नियम और व्यवस्थाएँ, योजनाएँ और नीतियाँ, प्रशासन का व्यवहार और भावना इनको अपनी परिधि में लेकर नहीं चलती, प्रत्युत उन्हें मार्ग का रोड़ा ही समझा जाता है। हमारी भावना और सिद्धान्त है कि मैले–कुचैले, अनपढ़, मूर्ख लोग हमारे नारायण हैं। हमें इनकी पूजा करनी है। यह हमारा सामाजिक एवं मानव धर्म है। जिस दिन इनको पक्के, सुन्दर, स्वच्छ घर बनाकर देंगे, जिस दिन हमें इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षा और जीवन–दर्शन का ज्ञान देंगे, जिस दिन हम इनके हाथ और पाँव की विवाईयों को भरेंगे और जिस दिन इनको उद्योगों और धंधों की शिक्षा देकर इनकी आय को ऊँचा उठा देंगे, उस दिन हमारा भ्रातृभाव व्यक्ति होगा। ग्रामों में जहाँ समय अचल खड़ा है, जहाँ माता और पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ हैं, वहाँ जब तक हम

आशा और पुरुषार्थ का संदेश नहीं पहुँचा पायेंगे, तब तक हम राष्ट्र के चौतन्य को जागृत नहीं कर सकेंगे। हमारी श्रद्धा का केन्द्र आराध्य और उपास्य हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मानदण्ड वह मानव होगा जो आज शब्दशः अनिकेत और अपरिग्रही है।[10]

भारतीय अर्थरचना के राष्ट्रीय लक्ष्य

हमारे देश को दीर्घ प्रयासों के बाद स्वतंत्रता मिली है। अतः इस राजनीतिक स्वतंत्रता को जो सुरक्षित रखे, ऐसी व्यवस्था हमें करनी चाहिए, यही हमारा प्रथम लक्ष्य है। दूसरी बात, हमारी जनतंत्रीय प्रणाली जिससे संकट में पड़ जाय या जो उसके लिए बाध्य सिद्ध हो, ऐसा आर्थिक नियोजन हम न करें। तीसरा लक्ष्य है, हमारे सांस्कृतिक मूल्य जो अपने राष्ट्रजीवन के लिए ही नहीं, सारे संसार भर के लिए भी अत्यन्त उपयोगी हैं, अतः उनकी रक्षा करनी है। अपनी संस्कृति को खोकर हम आर्थिक समृद्धि लाते हैं, तो वह व्यर्थ सिद्ध होगी। चौथा लक्ष्य हमें सैनिक दृष्टि से आत्मरक्षा में समर्थ बनाने का होना चाहिए। पाँचवा लक्ष्य आर्थिक स्वावलम्बन का हो। जो राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर रहता है। उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। स्वाभिमान शून्य राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कभी नहीं कर सकता। राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करनी हो तो आर्थिक स्वतंत्रता परमावश्यक है। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए आर्थिक स्वावलम्बन आवश्यक है। छठां लक्ष्य है, प्रजातंत्र में वयस्क मताधिकार की भाँति हर हाथ को काम देने वाली अर्थव्यवस्था। काम की भाँति न्यूनतम वेतन, न्यायोचित प्राप्ति एवं उसका न्यायोचित वितरण भी सामाजिक हित के लिए आवश्यक है।[11]

हमारी अर्थव्यवस्था के उद्देश्य

- प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र की सुरक्षा सामर्थ्य की व्यवस्था।
- इस स्तर के उपरान्त उत्तरोत्तर समृद्धि, जिससे व्यक्ति और राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सके जिनसे वह अपनी चित्ति के आधार पर विश्व की प्रगति में योगदान कर सके।
- उपयुक्त लक्ष्यों की सिद्धि के लिए प्रत्येक सबल एवं स्वस्थ व्यक्ति को रोजगार का अवसर देना तथा प्रकृति के साधनों को मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।
- राष्ट्र के उत्पादक उत्पादनों का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।
- यह व्यवस्था मानव की अवहेलना न कर उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन मूल्यों की रक्षा करें। लक्ष्मण रेखा है जिसका अतिक्रमण अर्थ रचना किसी भी परिस्थिति में नहीं कर सकती।
- विभिन्न उद्योगों आदि में राज्य, व्यक्ति अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्णय व्यवहारिक आधार पर हो।
- यह कुछ मोटी–मोटी बाते हैं जिनका विचार कर हमें अर्थ– रचना करनी होगी। आज की परिस्थिति में यदि किन्हीं दो शब्दों का प्रयोग कर अपनी अर्थव्यवस्था की दिशा के परिवर्तन को बताना हो तो वे हैं ''विकेन्द्रीकरण'' और ''स्वदेशी'' हम आज जो रचना कर रहे हैं उसमें ''केन्द्रीकरण'' जाने अथवा अनजाने में हमारी श्रद्धा का विषय बन गया है। केन्द्रीकरण ही आर्थिक है, यह हमारी मान्यता बन गई है और इसलिए उसके दुष्परिणाम की चिंता न करते हुए अथवा जानकर भी विवशतावश हम उसी ओर बढ़ रहे हैं। यही हाल स्वदेशी का है:[12]– स्वदेशी की कल्पना बीते युग की तथा मतिगामीपन की द्योतक समझी जाती है। विदेशों की हर वस्तु हम बड़े चाव से ले रहे हैं। विचार, व्यवस्था, पद्धति, पूँजी, उत्पादन प्रणाली, प्रौद्योगिकी तथा उपभोग के मानदण्ड सभी क्षेत्रों में विदेशों पर निर्भर हैं। यह प्रगति का रास्ता नहीं है, इससे विकास नहीं होगा, हम अपने 'स्व' को विस्तृत कर परतंत्र हो जायेंगे, स्वदेशी के भावात्मक रूप को समझकर हमें उसके सृजन का आधार एवं अवलंब बनाना चाहिए।

मौलिक विचार की आवश्यकता

आवश्यकता है कि हम अपने जीवन दर्शन का विचार कर भारतीय अर्थव्यवस्था का मौलिक निरुपण करें तथा

आज की समस्याओं को यथार्थ की कंटकाकीर्ण, ऊबड़–खाबड़ किंतु ठोस भूमि पर खड़े होकर सुलझाएँ। भारत के 'स्व' का साक्षात्कार किये बिना हम अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पायेंगे। यदि किसी क्षेत्र में संयोगवश थोड़ी बहुत सफलता मिल भी गई तो उसका परिणाम हमारे लिए हितकर नहीं होगा। हम परानुकरण की ओर अधिक प्रवृत्त होंगे। अपने स्वत्व और सामर्थ्य के विकास के स्थान पर परावलम्बन का भाव हमारे मन में घर कर जायेगा। आत्महीनता का यह भाव घुन की तरह राष्ट्र की जड़ें खोखली कर देगा। इस प्रकार जर्जर– मूल राष्ट्र कभी झंझावातों में खड़ा नहीं रह सकता।[13] यदि हमें देश का विकास करना है तो इस प्रश्न का अंतर्मुख होकर विचार करना ही होगा।

आर्थिक कार्यक्रम के आधारभूत लक्ष्य

हम जब भारत के लिए आर्थिक कार्यक्रम का विचार करते हैं तो हमारे सम्मुख कुछ ऐसे निश्चित लक्ष्य एवं तथ्य आते हैं, जिन्हें हम बदलना नहीं चाहेंगे, बल्कि सब प्रकार से उनका संरक्षण एवं संवर्द्धन ही हमारे प्रयत्नों का उद्देश्य होना चाहिए। प्रथम भारत के बड़े प्रयत्नों के बाद अंग्रेजों से मुक्ति पाई है। हम किसी भी शर्त पर इस स्वतंत्रता को गँवाना नहीं चाहेंगे। हमारी योजनाओं का प्रथम लक्ष्य होना चाहिए, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा का सामर्थ्य उत्पन्न करना। दूसरे हमने अपने लिए एक प्रजातंत्रीय ढाँचा चुना है। यदि आर्थिक समृद्धि का कोई भी कार्यक्रम हमारी प्रजातंत्रीय पद्धति के मार्ग में बाधक होता है तो वह हमें स्वीकार नहीं होगा। तीसरे हमारे जीवन के कुछ सांस्कृतिक मूल्य हैं, जो हमारे लिए तो राष्ट्रीय जीवन के कारण, परिणाम और सूचक हैं तथा विश्व के लिए भी अत्यन्त उपादेय हैं। विश्व को इस संस्कृति का ज्ञान कराना ही हमारा राष्ट्रीय जीवनोद्देश्य हो सकता है।[14] इस संस्कृति को गँवाकर यदि हमने अर्थ कमाया भी तो वह निरर्थक और अनर्थकारी होगा।

सन्दर्भ सूची

1. मिश्रा श्याम कार्तिक, *एकात्म मानववादः तत्कालीन भारत में पुनरावलोकन,* भाल बुक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 92।
2. उपाध्याय दीनदयाल, *भारतीय अर्थनीतिः विकास की एक दिशा,* राष्ट्र धर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ, पृ0 115।
3. लोहिया राम मनोहर, *अर्थशास्त्र,* लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 28।
4. उपाध्याय दीनदयाल, *भारतीय अर्थनीतिः विकास की एक दिशा,* अध्याय–2, भारतीय संस्कृति में अर्थ, राष्ट्र धर्म प्रकाशन, लखनऊ, 1958, पृ0 23।
5. उपाध्याय दीनदयाल, *भारतीय अर्थनीतिः विकास की एक दिशा,* अध्याय–2, भारतीय संस्कृति में अर्थ, राष्ट्र धर्म प्रकाशन, लखनऊ, 1958 पृ0 26।
6. उपाध्याय दीनदयाल, *भारतीय राजनीतिः विकास एक दिशा,* अध्याय–2।
7. शर्मा महेश चन्द्र, *पं. दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार,* प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, अध्याय–7, आर्थिक चिन्तन, पृ0 259।
8. उपाध्याय दीनदयाल, (1958) *भारतीय अर्थनीति विकास की दिशा,* सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली पृ0 210।
9. लेख, सबको काम ही भारतीय अर्थनीति का एकमेव मूलाधार, दीनदयाल उपाध्याय पांचजन्य, 31 अगस्त 1933।
10. केलकर भालचन्द्र कृष्णा, *पं. दीनदयाल उपाध्यायः विचार दर्शन,* खण्ड–3, राजनीति चिन्तन, सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ0 69।
11. राष्ट्र चिन्तनः पं. दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ 2007 पृ0 82।

12. एकात्म मानववाद, *पं. दीनदयाल उपाध्याय,* प्रकाशक भारतीय जनता पार्टी, नई दिल्ली, 2012 पृं0 27।

13. उपाध्याय, दीनदयाल, *भारतीय अर्थनीति,* विकास की एक दिशा, राष्ट्र धर्म प्रकाशन लिमिटेड, 1958, पृ0 07।

14. केलकर भालचन्द्र कृष्णा, *पं. दीनदयाल उपाध्यायः विचार दर्शन,* खण्ड–3, राजनीति चिन्तन, सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ0 69।

****